शासकों की पुलिस को *जनता की पुलिस* बनाने की आवश्यकता

बी.एम. शर्मा

पुलिस की उपस्थिति एक ऐतिहासिक तथ्य ही नहीं वरन् एक सामाजिक आवश्यकता भी है। प्राचीन काल से ही समाज में पुलिस की आवश्यकता एवं प्रासंगिकता रही है। वर्तमान समय में तो उसकी आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गयी है। आज के सन्दर्भ में यह कहा जाये कि बिना पुलिस के समाज का अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

लेकिन पुलिस के सम्बन्ध में जन सामान्य के मानस पर एक विचित्र विरोधाभासी स्थिति पायी जाती है। जहां एक ओर सामान्य अवसरों पर पुलिसमैन की उपस्थिति का कोई स्वागत नहीं किया जाता तथा जन सामान्य की मान्यता होती है कि भगवान् बचाये पुलिस से वहीं दूसरी ओर जब लोग किसी कठिनाई में पड़ जाते हैं अथवा समस्या से घिर जाते हैं तो पुलिस सहायता की बड़ी तत्परता से खोज की जाती है तथा उससे सहायता की

अपेक्षा की जाती है। यहां तक कि समाज के पढ़े-लिखे और समझदार तबके के व्यक्ति भी उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। आज पुलिस ने अपने इतिहास-विशेष, कार्य-विशेष एवं कार्य-शैली विशेष के कारण अपनी साख इतनी अधिक खराब कर ली है कि जनसामान्य का उस पर विश्वास नहीं के बराबर रह गया है। अनेक बार पुलिस के कार्यों को चाहे वे कितने ही सद्-उद्देश्य से क्यों न किये गये हों, उन्हें संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। विधान मण्डलों में पुलिस बजट पर तीखा वाद-विवाद होता है और पुलिस-विभाग को समाज की सभी बुराईयों के लिए दोषी ठहराया जाता है। यहां तक कि जब हत्याएं होती हैं अथवा व्यभिचार सम्बन्धी अपराधों की संख्या बढ़ने लगती है अथवा युवक नशीली वस्तुओं का प्रयोग करते पाये जाते हैं तो इसका दोष भी पुलिस पर लगाया जाता है। सर्वसाधारण की यह धारणा है कि आन्दोलनकारियों एवं शरारती तत्वों से निपटने के लिए पुलिस कोई कारगर एवं सक्रिय कदम नहीं उठाती और उन्हें दबाने में वह सर्वथा असमर्थ रही है। इसी संदर्भ में उसे भ्रष्टाचारी एवं पक्षपाती समझा जाने लगता है। आमतौर पर यह विश्वास किया जाता है कि पुलिस -

(क) मानसिक रूप से अपरिपक्व

(ख) असहायक

(ग) अभद्र तथा अव्यावहारिक

(घ) बेईमान और असामाजिक तत्वों से मिली हुई एवं

(ड) मारपीट करने और झूठे केस बनाने की अभ्यस्त है।

संक्षेप में, पुलिसमैन ऐसी सभी बातों का प्रतीक है जो घृणा के योग्य हैं। पुलिस कर्मियों पर यह भी दोषारोपण किया जाता है कि वे अत्याचारी हैं, बन्दूक चलाने और कठोर व्यवहार करने में उन्हें आनन्द आता है। परिस्थिति के बिगड़ने का दोष उन पर लगाया जाता है और न्यायिक जाँच की मांग की जाती है।

जन सामान्य का मानना है कि पुलिसमैन नम्रता की भाषा ही नहीं जानता और जनता से कैसे व्यवहार किया जाये, इसका उसे कोई ज्ञान नहीं है। वह अत्याचारी है, अतः स्वभाव से कायर है। यदि किसी व्यक्ति का सम्बन्ध तथाकथित बड़े लोगों से है तो पुलिस उसके सामने नतमस्तक रहेगी और यदि किसी व्यक्ति का कोई सहारा नहीं है तो उसके साथ जितना खराब व्यवहार किया जा सकता है, उतना किया जायेगा। पुलिस थानों पर गाली-गलौच, मारपीट, थर्ड डिग्री साधनों के प्रयोग से होने वाली मौतों से दैनिक अखबारों के पन्ने रंगे हुए प्रतिदिन देखे जाते हैं। महिलाओं के साथ पुलिस थानों में बलात्कार आम बात हो गयी है। अतः पुलिस का व्यवहार न तो हितकर ही है और न ही मित्रवत्, और जब आप किसी चोरी अथवा नकबजनी अथवा अन्य किसी अपराध की रिपोर्ट लेकर उसके पास जाते हैं तो वह आपसे शत्रुवत् व्यवहार करती है। इस प्रकार की रिपोर्ट दर्ज करने के लिए आपको कुछ लालच दिखाना पड़ेगा। उसके लिए सभी रोगों की एक दवा के रूप में "गोली" चलाना एक आम बात है। वह न्यायालयों में बनावटी मामले पेश करने में माहिर है। उसे अपने डण्डे के जोर पर किसी को भी रंगा-बिल्ला बनाने में देर नहीं लगती। संक्षेप में, पुलिसमैन सबसे खराब लोगों की ही मित्र है और किसी भी भले आदमी को उससे दूर रहना चाहिये।

सभी राज्यों के पुलिससुधारों के प्रतिवेदन इन तथ्यों से भरे पड़े हैं। इन्हें खंगालने पर यह सामने आता है कि पुलिस की इस निष्क्रियता, दुराचार और जन विरोधी प्रवृत्ति के चार कारण प्रमुख हैं -

1. मंत्री, जनप्रतिनिधि और निर्वाचित प्रतिनिधि, जो शासक है, पुलिस से गलत काम करवाते हैं।

2. पुलिस के वरिष्ठ अधिकारी अपने जूनियर्स के

साथ अनुशासन के नाम पर दुर्व्यवहार करते हैं।

3. न्यायपालिका को पुलिस के समक्ष भी अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है।

4. सामान्य जन पुलिस में विश्वास नहीं रखता और उसे शासकों की स्वामी भक्त पुलिस मानता है।

ये स्थितियाँ एक स्वाभिमानी, अनुशासित और आदरणीय पुलिस चाहती है जो वर्तमान में गिड़गिड़ाने वाली और गाली गलौच करने वाली मात्र है। यह स्थिति केवल प्रशिक्षण से नहीं सुधर सकती। इसके लिए भर्ती और सजा की प्रणालियों को बड़ी गम्भीरता से बदलना होगा।

समाज में पुलिस की छवि और पुलिस की नजरों में समाज की छवि एक लोकतांत्रिक संवाद चाहती है। आखिर यह पुलिसमैन भी तो हम लोगों में से ही एक हैं। वह भी उसी समाज का अंग है, जिस समाज में हम रह रहे हैं। ऐसी कौनसी परिस्थितियां हैं जिनके कारण एक हमारा भाई इस प्रकार का बर्बर व्यवहार करने लगा है? इस संदर्भ में पुलिस का अपना मानना है कि चाहे देश में आम चुनाव हों, अथवा किसी विशिष्ट व्यक्ति का आगमन, चाहे किसी विशिष्ट व्यक्ति की शादी हो अथवा अन्तिम संस्कार, कोई धार्मिक त्यौहार हो अथवा क्रिकेट मैच, थाने पर ड्यूटी देनी हो अथवा यातायात पर नियंत्रण रखना हो, पुलिसमैन को चौबीसों घण्टे ड्यूटी पर लगा रहना होता है। उसके कार्य के कोई निश्चित घण्टे नहीं हैं। पुलिसकर्मियों की प्रतिक्रिया है कि यह कोई नहीं सोचता कि उनके भी बाल-बच्चे और परिवार हैं जो बीमार भी हो सकते हैं और जिनकी कुछ आवश्यकताएं भी हो सकती हैं। उनकी समस्याओं, मुसीबतों, आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों की ओर किसी का भी ध्यान नहीं जाता। कोई भी सामान्य जन, राजनेता, लोकसेवक, बुद्धिजीवी यह नहीं सोचता कि आखिर पुलिसकर्मी इस प्रकार का व्यवहार करते हैं उसके पीछे क्या कारण हो सकते हैं। उन कारणों के समूल उन्मूलन की दिशा में कोई नहीं सोचता, उनके उन्मूलन का निष्पादन तो बहुत दूर की बात है।

पुलिस जन के साथ समाज में अपराधियों जैसा व्यवहार किया जाता है तथा उन्हें "चमचे", "टुल्ले" आदि कहकर उनकी भर्त्सना की जाती है। चाहे लोग अन्य मामलों में आपस में कितना भी मतभेद रखते हों, पुलिस के विरूद्ध वे सब एकमत हो जाते हैं। यातायात ड्यूटी पर तैनात सिपाही कड़ी धूप-बरसात में घण्टों अपनी ड्यूटी करता है परन्तु उसके इस कठिन कार्य की कोई सराहना नहीं करता। जब उच्छृंखल छात्रों का समूह सड़क पर यातायात नियमों का उल्लंघन करता है अथवा लड़कियों से छेड़छाड़ करता है अथवा अन्य गैरकानूनी कार्य करता है और सिपाही उन्हें चेतावनी देने का साहस करता है तो या तो उसकी पगड़ी या टोपी उछाली जाती है अथवा उसे अपशब्द सुनने पड़ते हैं। उसके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि कुछ समय के बाद उस सिपाही के मन में ऐसी भावना बन जाती है कि वह अपनी स्वयं की रक्षा के लिए सड़क पर हो रही उन गैर-कानूनी हरकतों की ओर ध्यान ही नहीं देता जिन्हें रोकने की उसकी ड्यूटी होती है। पुलिस कर्मियों का मानना है कि सामान्य जनता की तो यह हालत है कि यदि कोई पाकेटमार पुलिस द्वारा रंगे हाथों भी पकड़ा जाता है तो जिसकी जेब कटी है वह न्यायालय में जेबकट के विरूद्ध गवाही देने में आनाकानी करता है। ऐसी स्थिति में पुलिस करे तो क्या करे? इसके अतिरिक्त पुलिसकर्मी जो कि "हर मर्ज की दवा" समझा जाता है, जब एक अच्छा सा मामला बनाकर न्यायालय में प्रस्तुत करता है तो सबसे पहले तो सम्बन्धित न्यायाधीश एवं मैजिस्ट्रेट ही उस पर विश्वास नहीं करता। इसके बाद उसे ऐसे घाघ एवं पुराने वकीलों का सामना करना पड़ता है जो कानून

पढ़ते-पढ़ते तथा गवाहों का प्रतिपरीक्षण करते करते एवं सच को झूठ एवं झूठ को सच करने में सिद्धहस्तता प्राप्त कर चुके हैं। उसे यह सब और कभी-कभी इससे भी कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। पुलिस का मानना है कि "पुलिसमैन" समाज का शत्रु नहीं मित्र होता है। उसका अस्तित्व समाज की स्वीकृति से है। कतिपय पुलिस कर्मचारियों के दुर्व्यवहार को लेकर पूरे पुलिस विभाग पर दोषारोपण करना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। पुलिसमैन सदैव कट्टरपंथी, पागलपंथी और गुण्डागर्दी के अपराधी माहौल में जीता है और इन्हीं तत्वों से उसको सामना करना पड़ता है ताकि कानूनों का पालन करने वाले नागरिक शांतिपूर्वक रह सकें और अपने व्यक्तिगत अधिकारों एवं कर्तव्यों का पालन कर सकें। पुलिस की तुलना अन्य शासकीय कर्मचारियों से नहीं की जा सकती क्योंकि उन्हें दिन में 24 घण्टे और वर्ष में 365 दिन कार्य नहीं करना पड़ता। उन्हें समय-समय पर बन्दूक की गोलियों का सामना नहीं करना पड़ता तथा प्रदर्शनकारियों के पथराव को झेलते हुए ड्यूटी नहीं देनी पड़ती।

समस्या की जड़ : ऐतिहासिक विरासत

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व जो संगठनात्मक प्रणालियाँ विदेशी शासकों ने अपने साम्राज्यवादी- उपनिवेशवादी स्वार्थों की पूर्ति हेतु विकसित की थीं वे स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शासकों एवं शासन उद्देश्यों के बदल जाने के बाद भी लगभग वैसे की वैसे प्रचलन में चल रही हैं। ये सभी प्रणालियां, जिनमें हमारी शिक्षा एवं पुलिस-व्यवस्था प्रमुख हैं, ने समाज में अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने निरन्तरता एवं परिवर्तन (Continuity change) के लिए शिक्षा एवं पुलिस प्रणालियों एवं मान्यताओं में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया। इसके फलस्वरूप हमारे स्वतंत्र तथा प्रजातंत्रात्मक समाज में अनेक विरोधाभास उत्पन्न हो गये हैं। हमारे संविधान के इतने विस्तृत एवं भारी भरकम होने के बावजूद भी उसकी अपूर्णता तथा स्वाधीन समाज में इन संस्थाओं की अपर्याप्तता विगत 60-65 वर्षों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। जब संविधान को कार्यरूप में परिणित किया जाता है तभी आदर्शवादिता एवं वास्तविकता का एक अन्तर स्पष्ट दिखायी देता है। भारत में पुलिस प्रशासन के सम्यक् आकलन हेतु हमें स्वराज्य प्राप्ति से पूर्व की पुलिस परम्पराओं एवं नीतियों पर दृष्टिपात करना होगा तथा स्वतंत्र भारत में इन परम्पराओं एवं नीतियों के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं को भी पहचानना होगा। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारे शासक बदले हैं, शासन लक्ष्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आये हैं एवं राजनीतिक शासन के अभिनेता भी बदल गये लेकिन प्रशासनिक संरचना में कोई आमूल चूल परिवर्तन नहीं किया गया। इसी प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति, लोक कल्याणकारी राज्य, और प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली की प्रस्थापना ने देश में जन आकांक्षाओं का ज्वार उमड़ा दिया है। राजनीतिक नेतृत्व ने उसे और अधिक उभारा है लेकिन प्रशासनिक स्तर पर ऐसा कोई प्रयास नहीं के बराबर है जिससे प्रशासन और विशेषकर पुलिस प्रशासन अपने आपको बदले हुए वातावरण के अनुसार ढालकर जन आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके। हमारी पुलिस जन सेवक की भूमिका निभाते हुए "शासक की पुलिस" से "जनता की पुलिस" बनकर जन-सेवा, एवं विकास कार्यों में जन सहभागिता के साथ अपना सकारात्मक योगदान नहीं दे सकी है।

जब अंग्रेज भारत में आए तब उन्हें इस बात का बिल्कुल आभास नहीं था कि उन्हें इस महान देश का

शासन चलाना पड़ेगा तथा कानून एवं व्यवस्था की समस्याओं को सुलझाना पड़ेगा। वे यहां व्यापारी बनकर आए थे और बाद में उन्हें कर वसूली के अधिकार दे दिए गए थे। बिना समुचित प्रवर्तनतंत्र के वे इन अधिकारों का अमल नहीं कर सकते थे। वारेन हेस्टिंग्ज ने, जो कि उस समय कम्पनी शासन का प्रमुख था, भारत में पुलिस व्यवस्था का सूत्रपात करने का प्रयोग किया। उसने कर वसूली करने तथा पुलिस प्रशासन लागू कर संगीन अपराधों को दबाने के लिए मुगल फौजदारों की प्रणाली को पुनर्स्थापित किया था। परन्तु वारेन हेस्टिंग्ज का यह प्रयोग असफल रहा और कार्नवालिस ने जिला मैजिस्ट्रेटों को आदेश दिए कि वे अपने क्षेत्रों को विभिन्न पुलिस क्षेत्रों में विभाजित करें और प्रत्येक पुलिस क्षेत्र एक-एक दरोगा के अधिकार में रखा जाए। सिंध की विजय के पश्चात् सर चार्ल्स नेपियर के सामने दंड व्यवस्था की एक विचित्र समस्या आई जो अंग्रेजों के सामने भारत में अन्यत्र कहीं उपस्थित नहीं हुई थी। "रायल आईरिश-कान्स्टेबुलरी" को आदर्श मानकर सर चार्ल्स नेपियर ने सिंध पुलिस को एक स्वशासित दल के रूप में गठित किया जिसमें स्वयं के उच्चाधिकारी भी रखे गए। यह व्यवस्था इतनी सफल हुई कि कुछ ही वर्षों में बम्बई, मद्रास और यू.पी. में भी इसकी नकल की गई। सन् 1860 के पुलिस आयोग ने सिंध पुलिस व्यवस्था को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए सिफारिश की कि सिविल पुलिस का गठन प्रादेशिक स्तर पर किया जाए और एक पुलिस महानिरीक्षक प्रदेश की पुलिस का प्रमुख अधिकारी बनाया जाए। सन् 1860 के पुलिस आयोग की प्रमुख सिफारिशों को 1861 के पुलिस एक्ट में सम्मिलित कर दिया गया।

इस एक्ट के अन्तर्गत विभिन्न प्रान्तों में पुलिस बल का गठन किया गया जिनका संचालन प्रदेश सरकारों के अधीन पुलिस महानिरीक्षकों के द्वारा किया जाता रहा है। इस एक्ट के अनुसार जिला स्तर पर पुलिस बल का प्रशासन जिला मजिस्ट्रेट के सामान्य नियंत्रण तथा निर्देशानुसार पुलिस अधीक्षक के हाथ में रखा गया। प्रादेशिक विभाजन के अनुसार पुलिस बल का प्रान्तीय स्तर पर गठन किया गया। राष्ट्रीय स्तर पर एक पुलिस बल का गठन नहीं किया गया। प्रजातंत्र और लोक नियंत्रण जैसे उच्च आदर्श सन् 1860 के पुलिस आयोग के समक्ष नहीं थे और न उसने केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण के गुण-दोषों का ही तर्कसंगत परीक्षण किया था। अभी कुछ राज्यों ने 2005 की केन्द्र सरकार की सिफारिशों पर नये पुलिस अधिनियम लागू किये हैं पर मूल प्रावधान नहीं बदल सके हैं।

जब भारत आजाद हुआ और उसने सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य स्थापित करने का निर्णय लिया और 26 नवम्बर, 1949 को अपने लिए एक संविधान तैयार किया और 26 जनवरी 1950 से उसे लागू किया गया, तबसे देश में एक नये युग का सूत्रपात हुआ।

नयी जीवन-पद्धति में प्रवेश करने के साथ-साथ यह आवश्यक नहीं है कि पुरानी संस्थाएं और प्राचीन ऐतिहासिक परम्पराएं अपने आप ही समाप्त हो जायें। पुलिस संगठन भी इसी प्रकार का एक प्राचीन संगठन था। नये संविधान के कानून एवं व्यवस्था तथा वर्तमान पुलिस प्रणाली को प्रदेश शासन की जिम्मेदारी के अन्तर्गत ही रखा गया है। सन् 1935 के भारतीय संवैधानिक सुधार की उपसमिति ने यह उल्लेख किया था कि "लोक व्यवस्था की जिम्मेदारी लिए बिना, किसी जिम्मेदार शासन की कल्पना भी हमारे लिए कठिन है। पुलिस के अतिरिक्त किसी भी अन्य क्षेत्र में यह जिम्मेदारी इतनी महत्वपूर्ण नहीं मानी जा सकती। भारतीय जनता को अपना प्रशासन स्वयं चलाने के लिए पुलिस क्षेत्र की जिम्मेदारी से बढ़कर अन्य कोई अवसर अपनी सम्पूर्ण क्षमता प्रदर्शित करने का

नहीं मिल सकता।" कानून एवं व्यवस्था प्रदेशों को जिम्मेदारी है इस बात का अनुमोदन भारतीय गणतंत्र के संविधान में भी किया गया और केन्द्र तथा राज्यों की कार्यसूची बनाई गई। राज्य सूची में, सार्वजनिक व्यवस्था तथा पुलिस, जिसमें रेलवे पुलिस और ग्राम पुलिस सम्मिलित हैं, शामिल किए गए हैं। इस प्रकार पुलिस की संवैधानिक स्थिति साधारण परिवर्तनों के साथ लगभग वही है जो स्वतंत्रता के पूर्व थी। संविधान निर्माताओं ने यही उचित समझा कि संविधान के पूर्व पुलिस का जिस हद तक विकेन्द्रीकरण था, उतना ही सार्वजनिक नियंत्रण के लिए उपयुक्त है। चूंकि पुलिस एवं सार्वजनिक व्यवस्था राज्यों के अधिकार क्षेत्र में रखे गए हैं अतः राज्य मंत्रिमंडलों का यह पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि वे सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए कुशल बल का गठन करें।

इस प्रकार पुलिस का संगठन एवम् कार्यप्रणाली से यह स्पष्ट होता है कि ब्रिटिश शासन काल में पुलिस का प्रमुख उद्देश्य अंग्रेजों के व्यापार की सुरक्षा करना, अंग्रेज शासकों के हितों की सुरक्षा के दृष्टिकोण से प्रशासनिक कुशलता बनाए रखना था। जन सुरक्षा, जन कल्याण एवम् विकास की ओर पुलिस का किन्चित् भी ध्यान नहीं था। समाज में चोरी, डकैती, ठगी आदि का बोलबाला था। पुलिस का इन अपराधों में या तो हाथ होता था या उसके इशारों पर ये सब अपराध होते थे। इन अपराधों में पुलिस का अपना हिस्सा होता था। जन सामान्य पुलिस के इस रवैये से बहुत दुःखी थे। इसी प्रकार भारतीय स्वाधीनता के लिए जो राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था, उनको अपने जोर-शोर से दबाने के लिए और अपने आपको साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी शासकों की हित साधक सिद्ध करने के लिए पुलिस ने जो क्रूरतापूर्ण व्यवहार अपनाया उससे जन सामान्य में पुलिस के प्रति घृणा बढ़ती गयी। पुलिस कार्यों, पुलिस के कार्य करने की पद्धतियों एवम् पुलिस व्यवहार के कारण पुलिस एवम् जनता के बीच की दूरी बहुत अधिक बढ़ गयी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी इस दूरी एवम् घृणा में कोई कमी नहीं आयी है। पुलिस को जन सामान्य उसी नफरत की दृष्टि से देखता है क्योंकि पुलिस के कार्यों, कार्य-पद्धति एवम् व्यवहार में प्रकार की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। जन सामान्य में पुलिस को अभी भी ब्रिटिश शासनकाल की भांति दमन एवम् अत्याचार का प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार की छवि को दूर करने के लिए पुलिस की ओर से जो भी प्रयास किये गये हैं वे अप्रभावी लगते हैं। पुलिस के प्रति लोगों के मन में जो हीन भावना पायी जाती है वह उसी युग की देन है। जनता के मन में जो पुलिस की छवि बनी हुई है वह पुलिस के प्रति शत्रुवत् भावना को भड़काती है। पुलिस छवि के अध्ययन संकेत देते हैं कि सुसंस्कृत युवा पुलिस सेवा में आना ही नहीं चाहते। थानेदारों के पदों के लिए लाखों आवेदन आते हैं। मुगल प्रशासन का यह पद नये सिरे से सुधारा जाना चाहिए और यह अधिकारी एक Dy SP जैसा हो सकता है। यदि यह सुधार महंगा है तो थाने के सिपाहियों की संख्या 15 की जगह 10 की जा सकती है और बीस थानों के बीच 'एक स्टेण्ड बाई फोर्स' की व्यवस्था व्यावहारिक और उपयोगी हो सकेगी। इससे कार्य में कुशलता आयेगी और पुलिस की अभद्रता घटेगी। मानव अधिकारों की संरक्षा के लिए भी एक महिला अधिकारी को भी थाने के स्तर पर जोड़ा जाना पुलिस छवि को सुधारेगा। समस्या केवल भ्रष्टाचार और अभद्रता की ही नहीं है अपितु पुलिस अधिकारियों के ग्रामीण संस्कार बदले जाने चाहिए और इस दृष्टि से 'थानेदार' एक मुगल अधिकारी लगता है। इसे एक विनम्र नागरिक और पारिवारिक इन्सान बनाना होगा।

भारत जैसे विकासशील देश में औद्योगीकरण तथा

शहरीकरण में हो रही वृद्धि के कारण अभूतपूर्व गतिशीलता दिखाई देती है। देहाती क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर लोगों के निरन्तर पलायन के कारण ऐसे क्षेत्रों का फैलाव होता जा रहा है जहां आपराधिक मनोवृत्ति को फूलने-फलने के अवसर मिलते हैं। देहाती क्षेत्र से कुछ पढ़े-लिखे तथा समझदार लोगों के बाहर निकल जाने के कारण देहातों में एक प्रकार के अभाव की स्थिति उत्पन्न हो गई है। शहरी जीवन के विभिन्न आकर्षण लोगों की भीड़ इकठ्ठी करते जा रहे हैं जिससे आपसी ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा बढ़ती जा रही है। इसके फलस्वरूप जहां एक ओर आपसी झगड़े और हिंसा बढ़ती है वहीं दूसरी ओर अपराधों में भी वृद्धि होती है। इससे पुलिस के आगे एक ओर समस्या खड़ी हो जाती है। इस प्रकार की परिस्थिति से निपटने के लिए पुलिस प्रशासन को अधिक सतर्क रहने की तथा उचित दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। ये परिस्थितियां इतनी विस्फोटक बन चुकी हैं कि तुरन्त कार्रवाही और उपचार की आवश्यकता है। इस प्रकार पुलिस प्रशासन को समाज में हो रहे सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ कदम से कदम मिलाकर आगे बढ़ने की आवश्यकता है। उन्हें बदलते हुए समाज के विभिन्न पहलुओं और महत्वपूर्ण विषयों की जानकारी की भी आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही पुलिस सामाजिक परिवर्तन में सही रूप में प्रभावी ढंग से अपना योगदान दे सकेगी।

भारत में पुलिस प्रशासन एक लोकतांत्रिक दर्शन चाहता है। इस दर्शन में 'कम्युनिटी पुलिस' समाज से तभी जुड़ सकेगी जब पंचायती पुलिस की कोई नई जवाबदेह व्यवस्था पूरे देश में लागू की जा सके। इस पुलिस में महिला पुलिस अधिकारियों को जोड़े बिना कोई स्थूल या 'दृश्य परिवर्तन' दिखाई नहीं दे सकता। यदि हम आधी पुलिस का महिलाकरण (Feminisation) कर दें (जो आज संभव है) तो पुलिस कार्य और पुलिस कार्यों की प्रकृति ही बदल जायेगी और उसकी क्रूर छवि में भी भारी सुधार संभव हो सकेगा।

धर्मवीर राष्ट्रीय पुलिस आयोग से रिबैरो समितियों तक की व्यथा कथा सारे कारण बतला चुकी है। दर्जनों सुझावों की एक लम्बी सूची सभी सरकारें जानती हैं। पर सुझाव प्रस्तावों पर कार्य इसलिए नहीं होता कि उनमें जोखिम है और सरकारों में राजनीतिक इच्छा का अभाव है। ब्रिटिश पुलिस को सुधारते समय राबर्ट पील ने यह जोखिम उठाया था। काश, हमारे वरिष्ठ पुलिस अधिकारी और राज नेता भी अपनी राजनीतिक इच्छा शक्ति से कुछ ऐसे निर्णय ले सकें जिससे हमारी पुलिस जनता की प्रतिनिधि पुलिस बन सके और उसके अधिकारी जनता को सैल्यूट करना सीख सकें।